राष्ट्रीय एकता का सवाल और अब्दुल बिस्मिल्लाह का लेखन

डॉ. नुसरत ज़बीं सिद्दीकी
असिस्टेंट प्रोफेसर
मिर्जा गालिब कॉलेज
मगध विश्वविद्यालय, गया

शोध सारांश:
हिन्दुस्तानी सभ्यता- संस्कृति के निर्माण में अलग- अलग जातियों, नस्लों, विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों का योगदान रहा है। इसीलिए भारतीय समाज की एक धर्म एवं संस्कृति पर आधारित किसी भी वस्तु का तसव्वुर नहीं कर सकते। अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा- साहित्य के पात्र समाज को धर्म, जाति, सम्प्रदाय एवं भाषा के नाम पर बाँटने वालों से लगातार जूझते हैं। एक तरफ वे अपने धर्म एवं समाज की रूढ़ियों, अंधविश्वासों, जड़ परम्पराओं एवं अशिक्षा के खिलाफ आवाज़ बुलंद करते हैं, तो दूसरी तरफ साम्प्रदायिक ताकतों से भी दो- दो हाथ करते हुए दिखाई देते हैं। सामासिक संस्कृति को बल देने का काम हमेशा से साहित्य करता रहा है। सामासिक संस्कृति की प्रतिक्रिया में संकुचित एवं संकीर्ण विचारों की वह धारा बह निकली जिसे साम्प्रदायिकता कहा गया। साम्प्रदायिक विचारधारा का उदय आधुनिक भारत में हुआ। भारत के इतिहास में आधुनिक काल से पहले साम्प्रदायिक दंगों का इतिहास नहीं मिलता है। अंग्रेजी शासक से पहले विभाजनकारी मानसिकता और बिखराव समाज में दिखाई नहीं देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा भारत के इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या की परम्परा ने दोनों समुदायों के बीच दूरी पैदा की। साम्प्रदायिकता का उदय और विकास ब्रिटिश शासकों की फूट डालो और राज करो की नीति के तहत हुआ था। वे साम्प्रदायिक ताकतों को इसलिए भी बढ़ावा देते थे; क्योंकि ये ताकतें राष्ट्रवादी और सामंतवाद विरोधी ताकतों को कमज़ोर करने में मदद करती थी। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने कथा साहित्य में उन साझे मूल्यों को भी चित्रित किया है जो भारतीय संस्कृति की विशेष पहचान है। इनके कथा- साहित्य में चित्रित सामाजिक सांस्कृतिक एकता, धार्मिक सहिष्णुता के जरिए सामाजिक समरसता को मजबूती प्रदान की गई है। इनके कथा-साहित्य के चरित्र भारतीय संस्कृति की सामासिकता के पक्षधर के रूप में उभरते हैं, तथा साम्प्रदायिकता के खिलाफ लगातार जूझते हुए 'सेक्यूलिरिज्म' को एक नारे के तौर पर नहीं बल्कि जीवन जीने की शैली के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

बीज शब्द :
साझी विरासत, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, प्रेम, धर्मनिरपेक्ष, राष्ट्रीय प्रणाली, प्राचीन सभ्यताओं, सत्ता पक्ष, सामासिक संस्कृति, लोक जीवन, पहेलियों, मुकरियों, दोसुखनों, विचारधारा, विभाजनकारी मानसिकता, राष्ट्रवादी, सामंतवाद, धार्मिक सहिष्णुता, सामाजिक समरसता, धर्मान्तरण, अलगाववादी, अल्पसंख्यकवाद

अब्दुल बिस्मिल्लाह का सम्पूर्ण लेखन भारतीय सभ्यता- संस्कृति और उसकी साझी विरासत का प्रबल पक्षधर है। अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने लेखन में हर तरह की संकीर्णता और साम्प्रदायिकता का विरोध करते हैं जोकि भारतीय समाज को धर्म, सम्प्रदाय, जाति एवं भाषा के आधार पर बाँटता है। संस्कृति का संबंध कभी भी किसी एक धर्म विशेष से नहीं होता, या यूँ कहे कि संस्कृति के प्रति शुद्धता का आग्रह एक मिथ्या धारणा है। संस्कृति को जो लोग एक धर्म विशेष से जोड़कर देखते हैं वास्तव में वे अपने राजनैतिक और आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए समाज को बाँट रहे होते हैं। जब से धर्म सत्ता तक पहुँचने का माध्यम बन गया है, इस साझी संस्कृति को हाशिए पर धकेलने का प्रयास हो रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है; क्योंकि इन ताकतों से लड़ने के लिए रचनाकार ही अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज को वह ऊर्जा प्रदान करता है जिससे इन ताकतों को कमज़ोर किया जा सकता है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह का समग्र कथा साहित्य साम्प्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध भारतीय जनसामान्य की मिली- जुली संस्कृति को इस तरह उजागर करती है कि उससे इन ताकतों को कमजोर करने का वैचारिक हथियार प्राप्त होता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह संस्कृति से धर्म को दूर रखना चाहते हैं; क्योंकि उनका मानना है कि धर्म और जाति से राष्ट्र बहुत बड़ा होता है। हिन्दुस्तानी सभ्यता- संस्कृति के निर्माण में अलग- अलग जातियों, नस्लों, विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों का योगदान रहा है। इसीलिए भारतीय समाज की एक धर्म एवं संस्कृति पर आधारित किसी भी वस्तु का तसव्वुर नहीं कर सकते। अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा- साहित्य के पात्र समाज को धर्म, जाति, सम्प्रदाय एवं भाषा के नाम पर बाँटने वालों से लगातार जूझते हैं। एक तरफ वे अपने धर्म एवं समाज की रूढ़ियों, अंधविश्वासों, जड़ परम्पराओं एवं अशिक्षा के खिलाफ आवाज़ बुलंद करते हैं, तो दूसरी तरफ साम्प्रदायिक ताकतों से भी दो- दो हाथ करते हुए दिखाई देते हैं। जमील, इकबाल, अली, पडरौना महाविद्यालय के प्रधानाचार्य बाबू साहब आदि चरित्र समाज में व्याप्त विसंगतियों और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष करते हुए एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहते है जिसका आधार मानवीय प्रेम हो।

प्रेमचंद ने भी संस्कृति के सवाल पर उसे किसी धर्म विशेष से जोड़कर देखने का विरोध किया है। धर्म के रास्ते सत्ता तक पहुँचनेवालों की इस चालाकी को प्रेमचंद समझ रहे थे, इसलिए वह भारतीय जनता को आगाह करते हैं कि संस्कृति को सम्प्रदाय से जोड़कर न देखें। संस्कृति का संबंध कभी भी किसी एक धर्म या सम्प्रदाय से नहीं होता है, बल्कि संस्कृति अपने स्वभाव एवं परम्परा से ही धर्मनिरपेक्ष होती है। "संस्कृति राष्ट्रीय वस्तु है, धार्मिक नहीं है। और नई परिस्थितियाँ अंतराष्ट्रीय जाति विभाग का ही विकास कर रही हैं। पूर्वकाल में भी भिन्न- भिन्न संस्कृतियों का एक दूसरे पर असर पड़ता था, लेकिन राष्ट्रीय प्रणाली ही प्रधान रहती थी। भारत, ईरान, चीन आदि प्राचीन देशों में ऐसा ही हुआ है।"[1]

तमाम प्राचीन सभ्यताओं वाले देशों में जैसा कि प्रेमचंद कहते हैं कि अलग- अलग संस्कृतियों के वजूद में रहने से राष्ट्रीय प्रणाली का महत्त्व कम नहीं होता है, बल्कि वह हमेशा महत्त्वपूर्ण रही है। भारत भी एक ऐसा देश है जिसमें अलग- अलग संस्कृतियों का वजूद शताब्दियों से रहा है। इतिहास गवाह है कि हमेशा से इन संस्कृतियों के वजूद, इनके मिले- जुले स्वरूप को नुकसान पहुँचाने की साजिश सत्ता पक्ष या फिर सत्ता तक पहुँचने के अभिलाषी लोगों ने किया है। अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने कथा- साहित्य में समाज और राजनीति के इस यथार्थ को बड़ी बेबाकी से प्रस्तुत करते हैं। सामासिक संस्कृति को बल देने का काम हमेशा से साहित्य करता रहा है। अमीर खुसरो ने भारत में रहकर संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया, अरबी- फारसी में वे परांगत थे, उन्होंने इन भाषाओँ के साथ भारत के लोक जीवन को जोड़ने की परम्परा में अपनी पहेलियों, मुकरियों और दोसुखनों में जिस भाषा का प्रयोग किया है, उससे हमें खड़ी बोली हिन्दी के प्रारम्भिक रूप का दर्शन होता है, जोकि संस्कृति की सामासिकता एवं संस्कारों के मिले-जुले स्वरूप का मजबूत साक्ष्य है। केवल अमीर खुसरों ही नहीं बल्कि भक्तिकाल के कबीर, जायसी, रसखान जैसे कवि इस सामासिक संस्कृति के प्रबल पक्षधर रहे हैं। इनके काव्य में मानव समानता की संस्कृति का बुलंद स्वर सुनाई देता है।

सामासिक संस्कृति की प्रतिक्रिया में संकुचित एवं संकीर्ण विचारों की वह धारा बह निकली जिसे साम्प्रदायिकता कहा गया। साम्प्रदायिक विचारधारा का उदय आधुनिक भारत में हुआ। अत: यह भी कहा जा सकता है कि भारत में साम्प्रदायिकता ब्रिटिश- शासन की उपज है। "अंग्रेज शासकों ने अपने आपको हिन्दू और मुसलमानों के मध्य खड़ा कर ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुज की रचना का निश्चय किया जिसके आधार बिन्दु वे स्वयं रहे।"[2] भारत के इतिहास में आधुनिक काल से पहले साम्प्रदायिक दंगों का इतिहास नहीं मिलता है। अंग्रेजी शासक से पहले विभाजनकारी मानसिकता और बिखराव समाज में दिखाई नहीं देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा भारत के इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या की परम्परा ने दोनों समुदायों के बीच दूरी पैदा की। हिन्दू पुनरुत्थानवादी भावना के तहत धार्मिक संकीर्णता, संस्कृति के प्रति शुद्धता का आग्रह, मुसलमानों को विदेशी जाति एवं नस्ल का घोषित करना, सम्पूर्ण मध्यकाल के योगदान को नकारते हुए उसे अंधकार युग की संज्ञा देना, उर्दू को मुसलमानों की भाषा कहना एवं मंदिर- मस्जिद के विवादास्पद मुद्दों को बढ़ावा देना आदि ने भी साम्प्रदायिकता को विकसित किया। दूसरी तरफ सन् 1906 ई. में मुस्लिम लीग का जन्म, सन् 1909 ई. में मार्ले मिन्टो सुधारों के तहत साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति ने भी भारत को विभाजन की त्रासदी की ओर ले गया और आखिर में सन् 1940 ई. में जिन्ना ने 'द्विराष्ट्र सिद्धांत' दिया जिसके परिणामस्वरूप साम्प्रदायिकता का चरम बिंदु भारत विभाजन के रूप में सामने आया। "दोनों साम्प्रदायिकताएँ एक ही सिक्के के दो पहलू थे। साम्प्रदायिकता का उदय और विकास ब्रिटिश शासकों की फूट डालो और राज करो की नीति के तहत हुआ था। वे साम्प्रदायिक ताकतों को इसलिए भी बढ़ावा देते थे; क्योंकि ये ताकतें राष्ट्रवादी और सामंतवाद विरोधी ताकतों को कमज़ोर करने में मदद करती थी। हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिक दोनों एक- दूसरे की नकल थे और 1936 के बाद तो दोनों ने ही उस द्वि-राष्ट्र सिद्धांत का प्रतिपालन और प्रचार किया जिसकी वजह से आख़िरकार भारत का विभाजन हुआ।[3]

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने कथा साहित्य में मुस्लिम समाज के बाहरी एवं आंतरिक दोनों स्तर पर चल रहे संघर्ष को चित्रित किया है। एक तरफ यह समाज मुख्यधारा

से जुड़ना चाहता है, अपने को उतना ही भारतीय साबित करना चाहता है जितना की इस देश का हिन्दू है। दूसरी तरफ इस समाज का एक तबका अशिक्षा, अंधविश्वास, रूढ़ियों, जड़ मान्यताओं से जकड़ा हुआ है। साथ ही साथ रचनाकार ने उन साझे मूल्यों को भी चित्रित किया है जो भारतीय संस्कृति की विशेष पहचान है। इनके कथा- साहित्य में चित्रित सामाजिक सांस्कृतिक एकता, धार्मिक सहिष्णुता के जरिए सामाजिक समरसता को मजबूती प्रदान की गई है। इनके कथा-साहित्य के चरित्र भारतीय संस्कृति की सामासिकता के पक्षधर के रूप में उभरते हैं, तथा साम्प्रदायिकता के खिलाफ लगातार जूझते हुए 'सेक्यूलिरिज्म' को एक नारे के तौर पर नहीं बल्कि जीवन जीने की शैली के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

भारत के गाँवों में सदियों से फल-फूल रही साझी संस्कृति का बड़ा ही सजीव चित्रण अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'मुखड़ा क्या देखें' में हुआ है। उपन्यास का मुख्य चरित्र अली चूड़िहार है। अली के पूर्वज तथाकथित निम्न जाति के हिन्दू थे। आत्म-सम्मान एवं सामाजिक बराबरी हासिल करने के ख्वाहिश के तहत ही उसके पूर्वज धर्मान्तरण कर मुसलमान बने, लेकिन उनके संस्कार, रीति-रिवाज एवं तौर- तरीके सभी कुछ भारतीय संस्कृति का ही हिस्सा है। अत: अली हर दृष्टि से भारतीय समाज एवं संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है, लेकिन हिंदू समाज या यूं कहें कि गाँव के कुलीन व स्वर्ण समाज अली को सहज रूप से इस देश का नागरिक मानने से इंकार करता है। विभाजन के बाद भारत में ही रह गए मुसलमानों को बहुसंख्यक समुदाय संदेह की दृष्टि से देख रहा था। मुसलमानों को रामवृक्ष पांडे की सहज बुद्धि हिन्दुओं के बराबर का नागरिक मानने से इंकार कर रही थी। रामवृक्ष पांडे मुसलमानों को शक की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें लगता है कि उनकी मुस्लिम प्रजा कहीं उनसे विरोध ना कर दें, "इस शुभ अवसर पर हलवाई आया, कोंहार आया, चमार और पासी आए, सिपाही नाऊ भी आया; मगर अली चूड़िहार क्यों नहीं आया? जरुर उस मुसल्ले का दिमाग खराब हो गया है। अब बन न गया पाकिस्तान, हिन्दुस्तान में जगह न मिली तो पाकिस्तान चले जाएँगे वरना एक प्रजा की यह मजाल, कि गाँव के प्रतिष्ठित ब्राह्मण की कन्या का शुभ विवाह हो और वह अनुपस्थित रहे। वाह रे गाँधी बाबा, खूब आज़ादी दिलाई है तुमने।"[4] रामवृक्ष पांडे की इस मानसिकता के खिलाफ अली मजबूती के साथ खड़ा है। भारतीय समाज एवं संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को अली अपने धर्म व कर्म दोनों से ही स्थापित करता है। रामवृक्ष पांडे से मार खाकर इस अपमान को न सह पाने के कारण अली अपना वतन छोड़कर मध्यप्रदेश चला जाता है, लेकिन कुछ वर्षों के बाद अली को अपनी गलती का अहसास होता है और वह अपनी जमीन पर लौट आता है। सृष्टि नारायण पांडे जब अली को परेशान करता है तब अली पूरी मजबूती से ऐलान कर देता है कि यह गाँव और धरती उतनी ही उसकी है जितनी की किसी और की, "मगर ई सुन लिजिए महाराज, कि आप लोगन को चाहे हमारी जरूरत हो अऊर चाहे न हो, मुलाँ हम्में जरूरत है। आप लोगन को नहीं, ई गाँव की। ई धरती की। ई देस की। हम गलती पर ये महाराज कि आपके पिताजी की मार खाके भाग गए थे। मुलाँ अब हम कहीं नहीं जाएँगे। ई धरती में हमारी नार गड़ी है। ई धरती हमारी है। ई गाँव हमारा है। जहाँ हमारी नार गड़ी है, हुँवई लहास भी गड़ेगी।"[5] अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा-साहित्य के बहुत से पात्र पूरी मजबूती से साम्प्रदायिकता के खिलाफ खड़े दिखाई देते हैं। अब्दुल बिस्मिल्लाह स्पष्ट कर देते हैं कि हमेशा समाज का एक तबका इस धार्मिक संकीर्णता के बरअक्स मानवीय प्रेम को बेहतर साबित करता रहा है।

इसी प्रकार 'आधा गाँव' उपन्यास में राही स्पष्ट कर देते हैं कि गंगौली के मुसलमान ना तो पाकिस्तान बनने के पक्ष में थे और ना ही पाकिस्तान जाने के, उनकी दुनिया तो गंगौली ही थी। फुन्नन मियां, मिगदाद, हकीम साहब, अब्बू मियां, तन्नू, कम्मो आदि चरित्र पूरे उपन्यास में पाकिस्तान के घोर विरोधी के रूप में उभरते हैं। पूरे उपन्यास में फुन्नन मियाँ एक सशक्त पात्र के रूप में आते हैं जिनकी आत्मा गंगौली में बसती है। फुन्नन मियाँ मुस्लिम लीगियों के पाकिस्तान बनाने के तर्क को एक झटके में ख़ारिज कर देते हैं, "कहीं इस्लाम है कि हुककूमते बन जैयहे! ऐ भाई, बाप दादा की कबुर हियाँ है, चौक इमाम बाड़ा हियां है, खेती-बाड़ी हियां है । हम कीनों बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिंदाबाद में फंस जाए।"[6] तन्नू भी पाकिस्तान बनने के प्रश्न पर गुस्से में कहता है कि, "खौफ की बुनियाद पर बनने वाली कोई चीज मुबारक नहीं हो सकती। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी गंगौली यहीं हिंदुस्तान में रहेगा।"[7]

बदीउज्जाम ने भी 'छाको की वापसी' में भारतीय मुसलमानों के निम्नवर्गीय समाज पर पाकिस्तान का सवाल और उसके बनने के बाद जो त्रास स्थिति उत्पन्न होती है, उसे चित्रित किया है। पाकिस्तान के सवाल पर उसके समर्थन एवं विरोध में दी जाने वाली दलीलों को उपन्यासकार ने हबीब भाई और गाँधी भाई के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इन दलीलों एवं बहसों के जरिए उपन्यासकार ने विभाजन से पहले भारतीय समाज जिन दो विरोधी धड़ों में बंट गया था उसे स्पष्ट कर देता है। गाँधी भाई राष्ट्रवादी है और भारतीय मुसलमानों को भारतीय समाज का अभिन्न अंग मानते हैं, जबकि हबीब भाई जिन्ना के 'दो राष्ट्रों का सिद्धांत' का समर्थन करते हैं। गाँधी भाई हबीब भाई को समझाते हुए कहते हैं कि, "मियां भेड़ चाल चलने की कोशिश न करो। खुदा ने अक्ल और आँखें दी हैं। खुद सच्चाई तक पहुँचने की कोशिश करो नारों में कुछ नहीं रखा है । पाकिस्तान का ख्याल बहुत बड़ा फरेब है।"[8] हबीब भाई जब पूर्वी पाकिस्तान पहुँचते हैं तो उन्हें इस बात का अहसास होता है कि पाकिस्तान मुसलमानों के लिए फरेब के अलावा कुछ नहीं है, बंगाली मुसलमानों की बदसलूकी की वजह से उनका मोहभंग होता है। उपन्यासकार स्पष्ट करता है कि पाकिस्तान मुस्लिम अभिजात्य वर्ग ने अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए बनाया था, जहाँ पूरी कोशिश की गयी कि तथाकथित निम्नवर्गीय मुसलमान वहाँ न जा पाये। बदीउज्जाम इस तथ्य को एक बार फिर साबित करते हैं कि धर्म के आधार पर संस्कृति को विभाजित नहीं किया जा सकता। "यह एक बहुत तकलीफ़देह हकीकत है लेकिन है हकीकत की बिहारी मुसलमानों की बंगाली मुसलमानों के साथ गुजर नहीं हो सकती। बड़ा ही जानलेवा एहसास है यह कि हम जिन आदर्शों

को सीने से लगाए हुए ये और जिनसे हमारे दिल और रूह को ताज़गी और सुकून मिलता था उन्होंने अचानक ही जहरीले साँपों की तरह हमें डसना शुरू कर दिया है। मैं सच कहता हूँ कि बिहार के हिन्दू इन बंगाली मुसलमानों से यकीनन बेहतर थे।"[9] 'काला जल' उपन्यास में शानी भी मोहसिन और बब्बन के द्वारा पाकिस्तान का सवाल सीमित दायरे में उठते हैं। शानी भी इस सच से रु-ब-रु कराते हैं कि भद्रवर्गीय मुसलमानों ने अपने वर्गीय हितों को साधने के लिए आम मुसलमानों का इस्तेमाल किया और यही सुविधा सम्पन्न वर्ग पाकिस्तान भी गया। मोहसिन के पाकिस्तान जाने की बात पर बब्बन उससे इस ज्वलंत प्रश्न को पूछता है कि, "पाकिस्तान पहुँचने के बाद भी अगर तुम्हें लगा कि ठगे गए तो फिर कहाँ जाओगे-अरब या ईरान ?"[10] प्रो. इम्तियाज अहमद लिखते है कि, "सर्वविदित है कि देश का बँटवारा भारतीय मुसलमानों के लिए एक सदमें की तरह था। एक ओर बँटवारे ने उन्हें दो देशों में विभाजित कर दिया जबकि लगातार उनकी मान्यता यह थी कि वे एक कौम हैं। दूसरी ओर यद्यपि बँटवारे के निर्णय को आज़ादी संबंधी बातचीत में शामिल सभी पक्षों ने स्वीकार किया था, तथापि सिर्फ मुसलमानों को ही बँटवारे की जिम्मेदारी का भार उठाना पड़ा, जिसके कारण वे शक और नफरत का निशाना बनें।"[11] प्रो. इम्तियाज अहमद ने आज़ादी के बाद उभरी उस स्थिति को व्यक्त किया है, जिसने मुसलमानों को शक और नफरत का शिकार बनाया क्योंकि समस्त मुसलमानों को भारत के बँटवारे का जिम्मेदार माना जाने लगा।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'अपवित्र आख्यान' का जमील इसी शक एवं नफरत का शिकार बनता है, साथ ही वह उस राजनीति से बचकर अपने लिए किसी 'कमफर्ट जोन' की तलाश नहीं करता, बल्कि शक और नफरत की राजनीति से जूझते हुए सामासिकता की धारा को मजबूत करना चाहता है। इस प्रक्रिया में उसे बहुसंख्यक राजनीति की संकीर्णता से जहाँ एक ओर हाशिए पर धकेलने का प्रयास होता है, वहीं दूसरी ओर अलगाववादी राजनीति उसे अपने आप में विलीन कर लेना चाहती है। जमील इन दोनों समाज को बाँटने वाली धाराओं से अलग हट के अपने वजूद को बनाए रखता है। अभय कुमर दुबे जमील के इस संघर्ष के संबंध में कहते हैं कि, "अल्पसंख्यकवाद और बहुसंख्यकवाद के रास्ते उसके और उसके समुदाय के लिए माकूल साबित नहीं होने वाले। इसलिए, भारतीय आधुनिकता की इन बेरहम हकीकतों से कतरा कर वह गंगा- जमुनी संस्कृति के ममता भरे दामन में सिर छिपा लेना चाहता है। मुश्किल यह है कि शहर में, जो आधुनिकता का थिएटर है, यह सांस्कृतिक साझेदारी उपलब्ध नहीं है। शहर सदियों पुरानी इस सामासिक निर्मिति से पल्ला छुड़ा कर अलग- अलग अस्मिताओं में रम चुका है।"[12] इसीलिए जमील का संघर्ष ज्यादा पेचीदा हो जाता है; क्योंकि उसे एक साथ कई मोर्चों पर लड़ना है। जमील अपनी शख्सियत को किसी मजहब या समुदाय की चौहद्दी के दायरे में नहीं रखना चाहता, बल्कि वह आज़ाद हिन्दुस्तान का आज़ाद बाशिन्दा बनना चाहता है, जिसके लिए रामचरितमानस और कुरान शरीफ दोनों ही महान रचनाएँ है। जो अपने को वेदों, उपनिषदों का उतना ही सहज उत्तराधिकारी मानता है जितना की कोई हिन्दू।

हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष मुख्यत: शहरों में केन्द्रित रहा है; क्योंकि राजनीति का केंद्र मुख्य रूप से शहर ही हुआ करते हैं। गाँव और कस्बे यदि राजनीति से प्रभावित भी हुए तो वहाँ सदियों से मिल-जुल कर रहने वाले हिन्दू- मुसलमानों ने अपनी साझी संस्कृति के विरासत को धर्म द्वारा संचालित राजनीति के तहत उसमें कड़वाहट को आने नहीं दिया है। 'दंगाई' कहानी का बसंतू शहर की सम्प्रदायिक सोच से ग्रसित होकर गाँव आता है और उसे गाँवों में फैलाना चाहता है, लेकिन गाँव में दोनों समुदाय एक- दूसरे के साथ मिल-जुल कर रह रहे थे। रामलीला के दौरान बशीर अहमद की आवाज़ माइक में गूंजती है जिसे सुनकर बसंतू विचलित हो जाता है। "भाइयों, हमारे गाँव के प्रधान श्री दयाशंकर पाण्डे ने हनुमान के पार्ट पर खुश होकर दो रुपया दिया है और हनुमान के पार्ट पर ही मौलवी जमालुद्दीन साहब ने एक रुपया इनाम दिया है। हमारी रामलीला कमेटी उन्हें तहेदिल से धन्यवाद देती है। बोलो भगवान श्री रामचंद्र की जय बोलो श्री लखनलाल की जय! सीता मैया की जय! पवन सुत हनुमान की जय।"[13] बसंतू समझ नहीं पाता कि आखिर इस गाँव में वह कैसे साम्प्रदायिकता के विष को घोले।

'आधा फूल: आधा शव' कहानी में कब्रिस्तान की जमीन को लेकर जो विवाद उठ खड़ा होता है। उसके निवारण के लिए, इस विवाद के शांतिपूर्ण हल के लिए जिस पंचायत का गठन किया जाता है, उसके सदस्य के तौर पर हिन्दू व मुसलमान दोनों सम्प्रदायों के तरफ से पडरौना महाविद्याल के प्रधानाचार्य बाबू साहब का नाम आता है। बाबू साहब का नाम आना यह साबित करता है कि दोनों समुदायों का विश्वास बाबू साहब में है। वह जो कुछ भी फैसला करेंगे वह निष्पक्ष एवं न्यायसंगत होगा। इस कहानी के माध्यम से अब्दुल बिस्मिल्लाह यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि सामासिकता की रक्षा का दायित्व अब समाज के बुद्धिजीवी तबके के हाथ में है। "बाबू साहब की आँखों से टपाटप आँसू बहने लगे। यह समूचा हिंदुस्तान पडरौना और बनारस की तरह का ही एक शहर है। शायद! और 'यह शहर आधा फूल में है, आधा शव में / आधा जल में है, आधा मन्त्र में।"[14]

अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा विवेचना के केंद्र में सामासिक संस्कृति को बचाए रखने का संघर्ष ही नहीं है, बल्कि कथाकार की दृष्टि समाज में संस्कार रूप में व्याप्त उन बिंदुओं पर भी है जहाँ सामासिकता स्पष्ट रूप से अपने पूरे सौन्दर्य एवं संस्कार बोध के साथ उपस्थित है। सामासिकता के लिए जमील, इक़बाल, अली चूड़िहार, बाबू साहब इत्यादि पात्रों का संघर्ष निराशा भाव का बोध नहीं कराता, बल्कि यह पात्र उन शक्तियों का पूरे हौंसले के साथ मुकाबला करते हुए दिखते हैं जोकि सामासिकता को नुकसान पहुँचाने के फिराक में हैं। सामासिक संस्कृति के तत्व भारतीय सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार से घुले-मिले हैं कि इनको किसी भी शुद्धतावादी आग्रह के तहत अलगा कर के नहीं देखा जा सकता। इसी सामासिकता के तहत रामलीला के लिए धनुष का निर्माण मुस्लिम सिपाही नाऊ का परिवार करता है। जिसके लिए कोई मेहनताना नहीं लेता है;

क्योंकि उसके लिए यह धर्म का काम है, और "धरम के काम में पइसा लेना सत्तर गुनाह के बरोबर है।"[15] इसी भावना के तहत जब जब्बार मौलवी की मृत्यु होती है तब रामलीला का हारमोनियम बंद हो जाता है। धन की देवी लक्ष्मी को खुश करने के लिए रनिया दीवाली की रात में अपने चूड़ियों वाली भौकी के पास दिया जलाती है और लक्ष्मी के खुश होने की प्रार्थना करती है, "लच्क्ष्मी खुश तो जहान खुश। इतना तो करना ही होगा। फिर जमजुतिया का मेला भी तो है। लच्क्ष्मी खुश रहेंगी तो मेला ठीक-ठाक हो जाएगा।"[16] 'अपवित्र आख्यान' में भी राबिया देवी दीवाली की रात चूल्हे और दरवाजे पर दीया जलाती है तो जमील मुस्कुरा देता है। सिपाही नाऊ, रनिया, राबिया देवी इनके लिए मजहब कट्टरता नहीं है, वह हिन्दू व मुसलमान जैसे कटघरों में बंटा हुआ नहीं है। इसलिए अब्दुल बिस्मिल्लाह के यह पात्र उस साझी संस्कृति के विरासत को सम्भाले हुए हैं, जो आधुनिकता की चमक में और अलग- अलग अस्मिताओं के संघर्ष में लुप्त हो रही है। आचार्य नरेंद्र देव के अनुसार- "पंडितों की पाठशाला और विद्वानों की गोष्ठी में तथा तीर्थों में यह उदार भाव नहीं मिलेगा। यदि उसे देखना है तो अनपढ़ ग्रामीणों के खेतों और चौपालों में देखिए।"[17]

विभिन्न धर्मों, जातियों, समुदायों एवं सामाजिक हैसियत में फर्क के बावजूद ग्रामीण जीवन का साझापन एक- दूसरे के रिश्ते को इस कदर जोड़े रखता है कि सभी एक- दूसरे के दुख से दुखी और एक- दूसरे के सुख से प्रसन्न होते है। 'अपवित्र आख्यान' में जमील का ससुराल ऐसा ही गाँव है, जहाँ हमारी साझी संस्कृति की निर्मल धारा बह रही है। राबिया पूरे गाँव की बिटिया है, सबकी जीजी है, मोहन उसका भैया है और मोहन के दादा उसके भी बाबा है। यहाँ धर्म मानवीय प्रेम में कहीं भी बाधक नहीं बनता। यही वह साझी विरासत है जिसके तहत श्यामू भैया का तिलक- बरच्छा राबिया जीजी के बिना अधूरा है। जहाँ मजहब दिलों के बीच दूरी नहीं पैदा करता, बल्कि सह-अस्तित्व की भावना पैदा करता है, जहाँ दोनों समुदाय के लोग एक दूसरे के बिना अधूरे है। "कउन राबिया? ननकऊ केर बिटिया? तोर छोटकी दीदी ?" बाबा के चेहरे पर बाल सुलभ मुस्कान बिखरी।

"हाँ बाबा।"

"मोर बिट्टो कहाँ है ?" बाबा तड़पे।

तब सिर पर आँचल ठीक करती हुई, आगे बढ़कर, रनिया ने बाबा के पाँव छू लिए। बाबा ने अंदाज से रनिया के सिर पर अपना हाथ रख दिया। "जुग-जुग जिया बिटिया। दूधो नहाव, पूतो फलो।" तभी लड़कियों का एक झुंड भीतर से बाहर आया और एक शोर उठा, "श्यामू भैया, दीदी, जीजा जी, कहाँ हैं आप लोग? आप लोगन की वजह से सब नेगचार रुका पड़ा है। रनिया तो अपने श्यामू भैया और बुलाने आई लड़कियों के साथ भीतर चली गई, मगर जमील पास खड़े कटहल के पेड़ के पास जाकर उसके तने से लिपट गया और फूट- फूटकर रोने लगा।"[18] जमील इसलिए रोता है; क्योंकि यह सामासिकता समाज के हाशिए पर धकेली जा रही है। आधुनिक समाज जिसमें साम्प्रदायिक ताकतों एवं विभिन्न अस्मिताओं के सवाल की होड़ में यह मिली-जुली संस्कृति अपनी पहचान खो रही है। अभय कुमार दूबे लिखते हैं कि, "जमील इसलिए रो रहा है कि शहर में अब ये सम्भावनाएँ नहीं रही, क्योंकि ग्रामों में जिस संस्कृति के अवशेष जिन्दा है उसका अभिजन तो वह हिंदू- मुस्लिम भद्र वर्ग या जिसकी संरचना सोलहवीं सदी के उदार मुगल शासन से लेकर अवध के शिया नवाबों की हुकूमत के बीच धीरे-धीरे परवान चढ़ी थी। यह अभिजन अब खत्म हो चुका है। हिन्दुओं और मुसलमानों के अलग-अलग अभिजन बन चुके हैं।"[19]

निष्कर्ष :

अंततः कह सकते हैं कि अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा-साहित्य के चरित्र सच्चे अर्थों में सामासिकता को परिभाषित करते हैं। एक ऐसा आदर्श समाज निर्मित करते हैं जिसमें हिंदू-मुसलमान दोनों परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है और एक दूसरे के बगैर अधूरे भी। अनेक भिन्नताओं, कड़वाहटों के बावजूद इन उपन्यासों के पात्र एक दूसरे के काम आते हैं, संकट के दौरान मदद करते हैं, और जरूरत पड़ने पर जान देने को भी तैयार रहते हैं। ये पात्र साझी परम्परा एवं संस्कृति की विरासत की नींव मजबूत करते हुए एक धर्मनिरपेक्ष व लोकतांत्रिक राष्ट्र को रचते हैं।

संदर्भ :

1. सिंह, प्रो. कुंवरपाल, राही और उनका रचना संसार, शिल्पायन, संस्करण- 2006, पृष्ठ संख्या - 8
2. दीक्षित, प्रभा, साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ, मैकमिलन प्रकाशन, संस्करण- 1980, पृष्ठ संख्या – 52
3. चंद्रा, विपिन, साम्प्रदायिकता: एक परिचय, दिल्ली इतिहासकार ग्रुप की तरफ से द्वितीय संस्करण 2006, पृष्ठ संख्या -79
4. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, मुखड़ा क्या देखें, राजकमल प्रकाशन, संस्करण- 1996, पृष्ठ-27
5. वही, पृष्ठ संख्या–221
6. रजा, राही मासूम, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, पहला पेपर बैक, संस्करण-1985, पृष्ठ संख्या –79
7. वही, पृष्ठ संख्या–256
8. बदीउज्ज़मा, छाको की वापसी, राजकमल प्रकाशन, पहला पेपर बैक, संस्करण-1985, पृष्ठ संख्या–79
9. वही , पृष्ठ संख्या–155
10. शानी, काला जल, राजकमल प्रकाशन, चौथा पेपर बैक, संस्करण–1991, पृष्ठ संख्या–311
11. सं. राजकिशोर, भारतीय मुसलमान: मिथक और यथार्थ, वाणी प्रकाशन, संस्करण–2004, पृष्ठ-34
12. दुबे, अभय कुमार, हंस, 2008, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-74
13. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, रैनबसेरा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2001, पृष्ठ संख्या-52-53
14. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, अतिथि देवो भव, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2007, पृष्ठ संख्या–117
15. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, मुखड़ा क्या देखें, राजकमल प्रकाशन, संस्करण- 1996, पृष्ठ-168
16. वही, पृष्ठ संख्या– 113
17. वर्मा, केशव चंद, भारतीय की पहचान, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ संख्या–26
18. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, अपवित्र आख्यान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या–154
19. हंस, राजकमल प्रकाशन, अगस्त 2008, पृष्ठ संख्या–79